समर्पण

'सिद्धिसोपान' के इस संस्करणकी संपूर्ण दस हज़ार प्रतियाँ निम्न सज्जनोंकी ओरसे सर्वसाधारण स्त्रीपुरुषोंकी सेवामें विना मूल्य, स्वपर-कल्याणार्थ, सादर समर्पित हैं:—

श्री अग्रवाल दस्सा जैन पंच, खातोली	२०००
बाबू निर्मलकुमारजी जैन रईस, आरा	१५००
राय ब० साहु जुगमन्दरदासजी, नजीबबाद	१०००
बाबू सुमेरचन्दजी एडवोकेट, सहारनपुर	१०००
बाबू लालचन्दजी एडवोकेट, रोहतक	१०००
साहु श्रेयांसप्रसादजी, नजीबाबाद	५००
साहु विमलप्रसादजी, नजीबाबाद	५००
ला० चन्द्रसेनजी, तिस्सा	५००
ला० रूपचन्दजी गार्गीय, पानीपत	५००
ला० जम्बूप्रसाद प्रकाशचंदजी, नानौता	५००
श्रीमती जयवन्ती देवी, नानौता	५००
जुगलकिशोर मुख्तार, सरसावा	५००

—प्रकाशक

प्रस्तावना

भक्तियोग-रहस्य

जैनधर्मके अनुसार, सब जीव द्रव्यदृष्टिसे अथवा शुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षा परस्पर समान हैं—कोई भेद नहीं--सबका वास्तविक गुण-स्वभाव एक ही है। प्रत्येक जीव स्वभावसे ही अनन्त दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख और अनन्त वीर्यादि अनन्त शक्तियोंका आधार है—पिण्ड है। परन्तु अनादिकालसे जीवोंके साथ कर्ममल लगा हुआ है, जिसकी मूल प्रकृतियाँ आठ, उत्तर प्रकृतियाँ एकसौ अड़तालीस और उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ असंख्य हैं। इस कर्म-मलके कारण जीवोंका असली स्वभाव आच्छादित है, उनकी वे शक्तियाँ अविकसित हैं और वे परतंत्र हुए नाना प्रकारकी पर्यायें धारण करते हुए नज़र आते हैं।

अनेक अवस्थाओंको लिये हुए संसारका जितना भी प्राणिवर्ग है वह सब उसी कर्ममलका परिणाम है—उसीके भेदसे यह सब जीव-जगत् भेदरूप है; और जीवकी इस अवस्थाको 'विभाव-परिणति' कहते हैं। जबतक किसी जीवकी यह विभाव-परिणति बनी रहती है, तब तक वह 'संसारी' कहलाता है और तभी तक उसे संसारमें कर्मानुसार नाना प्रकारके रूप धारण करके परिभ्रमण करना तथा दुःख उठाना होता है; जब योग्य साधनोंके बलपर यह विभाव-परिणति मिट जाती है—आत्मामें कर्म-मलका सम्बन्ध नहीं रहता—और उसका निज स्वभाव सर्वाङ्गरूपसे अथवा पूर्णतया विकसित हो जाता है, तब वह जीवात्मा संसार-परिभ्रमणसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त हो जाता है और मुक्त, सिद्ध अथवा परमात्मा कहलाता है,

जिसकी दो अवस्थाएँ हैं—एक जीवन्मुक्त और दूसरी विदेहमुक्त। इस प्रकार पर्यायदृष्टिसे जीवोंके 'संसारी' और 'सिद्ध' ऐसे मुख्य दो भेद कहे जाते हैं, अथवा अविकसित, अल्प-विकसित, बहुविकसित और पूर्ण-विकसित ऐसे चार भागोंमें भी उन्हें बाँटा जा सकता है। और इसलिये जो अधिकाधिक विकसित हैं वे स्वरूपसे ही उनके पूज्य एवं आराध्य हैं, जो अविकसित या अल्पविकसित हैं; क्योंकि आत्म-गुणोंका विकास सबके लिये इष्ट है।

ऐसी स्थिति होते हुए यह स्पष्ट है कि संसारी जीवोंका हित इसीमें है कि वे अपनी विभाव-परिणतिको छोड़कर स्वभावमें स्थिर होने अर्थात् सिद्धिको प्राप्त करनेका यत्न करें। इसके लिये आत्म-गुणोंका परिचय चाहिये, गुणोंमें वर्द्धमान अनुराग चाहिये और विकास-मार्गकी

दृढ श्रद्धा चाहिये । बिना अनुरागके किसी भी गुणकी प्राप्ति नहीं होती—अननुरागी अथवा अभक्त हृदय गुणग्रहणका पात्र ही नहीं, विना परिचयके अनुराग बढ़ाया नहीं जा सकता और विना विकास-मार्गकी दृढ श्रद्धाके गुणोंके विकासकी ओर यथेष्ट प्रवृत्ति ही नहीं बन सकती । और इस लिये अपना हित एवं विकास चाहनेवालोंको उन पूज्य महापुरुषों अथवा सिद्धात्माओंकी शरणमें जाना चाहिये – उनकी उपासना करनी चाहिये, उनके गुणोंमें अनुराग बढ़ाना चाहिये और उन्हें अपना मार्ग-प्रदर्शक मानकर उनके नक़शे क़दमपर चलना चाहिये अथवा उनकी शिक्षाओंपर अमल करना चाहिये, जिनमें आत्माके गुणोंका अधिकाधिक रूपमें अथवा पूर्णरूपसे विकास हुआ हो; यही उनके लिये कल्याणका सुगम मार्ग है । वास्तवमें ऐसे महान् आत्माओंके

विकसित आत्मस्वरूपका भजन और कीर्तन ही हम संसारी जीवोंके लिये अपने आत्माका अनुभवन और मनन है, हम 'सोऽहं' की भावनाद्वारा उसे अपने जीवनमें उतार सकते हैं और उन्हींके—अथवा परमात्मस्वरूपके—आदर्शको सामने रखकर अपने चरित्रका गठन करते हुए अपने आत्मीय गुणोंका विकास सिद्ध करके तद्रूप हो सकते हैं। इस सब अनुष्ठानमें उनकी कुछ भी गरज़ नहीं होती और न इसपर उनकी कोई प्रसन्नता ही निर्भर है—यह सब साधना अपने ही उत्थानके लिये की जाती है। इसीसे सिद्धिके साधनोंमें 'भक्ति-योग' को एक मुख्य स्थान प्राप्त है, जिसे 'भक्ति-मार्ग' भी कहते हैं।

सिद्धिको प्राप्त हुए शुद्धात्माओंकी भक्तिद्वारा आत्मोत्कर्ष साधनेका नाम ही 'भक्ति-योग' अथवा 'भक्ति-मार्ग' है और 'भक्ति' उनके

गुणोंमें अनुरागको, तदनुकूल वर्त्तनको अथवा उनके प्रति गुणानुरागपूर्वक आदर-सत्काररूप प्रवृत्तिको कहते हैं, जो कि शुद्धात्मवृत्तिकी उत्पत्ति एवं रक्षाका साधन है। स्तुति, प्रार्थना, वन्दना, उपासना, पूजा, सेवा, श्रद्धा और आराधना ये सब भक्तिके ही रूप अथवा नामान्तर हैं। स्तुति-पूजा-वन्दनादि रूपसे इस भक्ति-क्रियाको 'सम्यक्त्ववर्द्धिनी क्रिया' बतलाया है, 'शुभोपयोगि चारित्र' लिखा है और साथ ही 'कृतिकर्म' भी लिखा है जिसका अभिप्राय है 'पापकर्म-छेदनका अनुष्ठान'। सद्भक्तिके द्वारा औद्धत्य तथा अहंकारके त्यागपूर्वक गुणानुराग बढ़नेसे प्रशस्त अध्यवसायकी—कुशल परिणामकी—उपलब्धि होती है और प्रशस्त अध्यवसाय अथवा परिणामोंकी विशुद्धिसे संचित कर्म उसी तरह नाशको प्राप्त होता है, जिस तरह

काष्ठके एक सिरेमें अग्निके लगनेसे वह सारा ही काष्ठ भस्म हो जाता है। इधर संचित कर्मोंके नाशसे अथवा उनकी शक्तिके शमनसे गुणावरोधक कर्मोंकी निर्जरा होती या उनका बल-क्षय होता है तो उधर उन अभिलषित गुणोंका उदय होता है, जिससे आत्माका विकास सधता है। इसीसे स्वामी समन्तभद्र जैसे महान् आचार्योंने परमात्माकी स्तुतिरूपमें इस भक्तिको कुशल परिणामकी हेतु बतलाकर इसके द्वारा श्रेयोमार्गको सुलभ और स्वाधीन बतलाया है और अपने तेजस्वी तथा सुकृती आदि होनेका कारण भी इसीको निर्दिष्ट किया है और इसी लिये स्तुति वंदनादिके रूपमें यह भक्ति अनेक नैमित्तिक क्रियाओंमें ही नहीं, किन्तु नित्यकी षट् आवश्यक क्रियाओंमें भी शामिल की गई है, जो कि सब आध्यात्मिक क्रियाएँ हैं और अन्तर्दृष्टि पुरुषों (मुनियों तथा श्रावकों) के द्वारा आत्मगुणोंके विकासको लक्ष्यमें रखकर

ही नित्य की जाती हैं और तभी वे आत्मोत्क-पंकी साधक होती हैं। अन्यथा, लौकिक लाभ, पूजा-प्रतिष्ठा, यश, भय, रूढि आदिके वश होकर करनेसे उनके द्वारा प्रशस्त अध्यवसाय नहीं बन सकता और न प्रशस्त अध्यवसायके विना संचित पापों अथवा कर्मोंका नाश होकर आत्मीय गुणोंका विकास ही सिद्ध किया जा सकता है। अतः इस विपयमें लक्ष्यशुद्धि एवं भावशुद्धिपर दृष्टि रखनेकी खास जरूरत है, जिसका सम्बन्ध विवेकसे है। विना विवेकके कोई भी क्रिया यथेष्ट फलदायक नहीं होती, और न विना विवेककी भक्ति सद्भक्ति ही कहलाती है।

भक्तिपाठ

इस भक्तिक्रियाको चरितार्थ करने--अर्थात् इसके द्वारा पुण्यकी प्राप्ति, पापका नाश और आत्मगुणोंका विकाश सिद्ध करनेके लिये समय-समयपर अनेक भक्तिपाठों अथवा स्तुतिपाठोंकी

योजना की गई है। ये पाठ संस्कृत और प्राकृत दोनों मुख्य तथा प्राचीन भाषाओंमें पाये जाते हैं और अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, योगीन्द्र, चैत्यादि भक्तियोंके भेदसे अनेक भेदको लिये हुए हैं। इनमेंसे कितने ही पाठ बहुत अधिक प्राचीन समयके हैं। उस समय ये भक्ति-पाठ ही हमारे पूजा-पाठ थे, ऐसा उपासना-साहित्यके अनुसन्धानसे जाना जाता है। आधुनिक पूजा-पाठों-की तरहके कोई भी दूसरे पूजा-पाठ उस समयके उपलब्ध नहीं हैं। उस समय मुमुक्षुजन एकान्त स्थानमें बैठकर अथवा अर्हत्प्रतिमा आदिके सामने स्थित हो र बड़े ही भक्ति-भावके साथ विचारपूर्वक जब इन पाठोंको पढ़ते थे, तो वे अपने वचन और कायको अन्य व्यापारोंसे हटाकर उपास्यके प्रति—हाथ जोड़ने, शिरोनति करने, स्तुति पढ़ने आदि द्वारा--एकाग्र करते थे, यही उनकी 'द्रव्य-पूजा' थी; और मनकी नाना-

विकल्पजनित व्यग्रताको दूर करके उसे ध्यान तथा गुणचिन्तनादिद्वारा उपास्यमें लीन करते थे, यही उनकी 'भाव-पूजा' थी। प्राचीनोंकी द्रव्यपूजा आदिके इसी भावको अमितगति आचार्यने अपने उपासकाचारके निम्न वाक्यमें सूचित किया है:—

वचो विग्रह-संकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते।
तत्र मानस-संकोचो भावपूजा पुरातनैः॥

सिद्धभक्ति और प्रस्तुत रचना

भक्तियोंमें 'सिद्धभक्ति' को विशेष स्थान प्राप्त है—प्रायः सभी नित्य-नैमित्तिक धार्मिक क्रियाओंकी आदिमें उसके अनुष्ठानका विधान पाया जाता है। इस 'सिद्ध-भक्ति' के जितने भी पाठ उपलब्ध हैं, उनमें पूज्यपाद आचार्यका पाठ सबसे अधिक महत्त्वका मालूम

होता है। इसमें सूत्ररूपसे सिद्धिका, सिद्धिके मार्गका, सिद्धिको प्राप्त होनेवाले आत्माका, आत्मविपयक जैनसिद्धान्तका, सिद्धिके क्रमका, सिद्धिको प्राप्त हुए सिद्धोंका और सिद्धोंके सुखा-दिका अच्छा स्वरूप बतलाया गया है और इसलिए यह पाठ मुझे बहुत पसंद आया है। जबसे मुझे इसकी प्राप्ति हुई है मैं प्रायः नित्य ही प्रातःकाल इसका पाठ करता रहा हूँ और कभी कभी तो दिन रातमें कई कई बार पाठ करनेकी भी प्रवृत्ति हुई है। परन्तु यह भक्ति-पाठ प्रायः इतना कठिन, गूढ और अर्थ-गौरवको लिये हुए है कि सहजहीमें इसके पूर्ण अर्थका बोध नहीं होता और इसलिये अनेक बार थोड़ीसी भी चित्तकी अस्थिरता अथवा मनोयोगकी कमी होते हुए इसके भीतर प्रवेश नहीं होता था और यह पाठमात्र ही रह जाता था। इसलिये

बहुत दिनोंसे मेरी भावना थी कि मैं हिन्दी भाषामें इसे कुछ विशदरूप दूँ, जिससे इस भक्तिके द्वारा अधिक लाभ उठाया जा सके और साधारण जनताका भी कुछ विशेष उपकार बन सके। उसीके फलस्वरूप यह 'सिद्धि-सोपान' पाठकोंके सामने उपस्थित है। इसमें उक्त 'सिद्ध-भक्ति' की कोई भी बात छोड़ी नहीं गई है, उसके पूर्ण अर्थ या भावार्थको लानेकी शक्तिभर चेष्टा की गई है और क्रम भी सब उसीका रक्खा गया है; बाकी जो कुछ अधिक है वह या तो उक्त भक्तिके शब्दोंमें संनिहित गूढ अर्थका विशदीकरण है और या विषयका स्पष्टीकरण है, जिसके लिये प्रभाचन्द्रकी टीकाके अतिरिक्त खुद पूज्यपादके और स्वामी समन्तभद्र तथा कुन्दकुन्दाचार्य जैसे महान् आचार्योंके वाक्योंका सहारा लिया गया है। उदाहरणके तौर पर तीसरे पद्यका उत्तरार्ध मूलके

' तत्तपोभिर्न युक्तः ' शब्दोंके अर्थका टीकानुसार विशदीकरण है; पाँचवाँ पद्य ' इतो नान्यथा साध्यसिद्धिः ' इस वाक्यके विषयका अर्थसहित स्पष्टीकरण है और पद्य नं० ९, १५, १७, के उत्तरार्ध जो मूलसे बढ़े हुए मालूम होते हैं उनमेंसे प्रथम दो उत्तरार्धोंमें समन्तभद्रादिके ' परमेष्ठी परंज्योतिः ' इत्यादि वचनानुसार मुक्तात्माओंके कुछ खास नामोंका उल्लेख करके उनके स्वरूपको स्पष्ट किया गया है और १७ वेंके उत्तरार्धमें दृष्टान्तोंके साथ सांसारिक विषय-सौख्यकी तुलना करके बतलाई गई है और उसका पूरा स्वरूप एक ही चरणमें दिया गया है, जो कि श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके ' सपरं बाधासहियं विच्छिन्नं बंधकारणं विसमं ' इत्यादि गाथाके पूर्ण आशयको लिये हुए है। इसी तरह बढ़े हुए १९ वें

पद्यमें सिद्धोंके स्वरूपका कुछ और अधिक स्पष्ट शब्दोंमें सार दिया गया है और अन्तके दोनों पद्योंमें फल-कथनके साथ उस विषयका हेतु-पुरस्सर स्पष्टीकरण किया गया है जो २० वें पद्यके उत्तरार्धमें मूलके अनुसार निर्दिष्ट हुआ है; और उसके द्वारा सिद्धोंकी उपासना एवं भक्तिके रहस्यको बहुत कुछ थोड़े तथा सरल शब्दोंमें खोला गया है।

ऐसी हालतमें इस 'सिद्धि-सोपान' को, जिसका यह नाम बहुत कुछ सार्थक और साधार है, पूज्यपादकी 'सिद्धि-भक्ति' का अनुवाद न कहकर उसका यत्किंचित् विकास अथवा विस्तार कहना चाहिये। विस्तार और भी अधिक किया जा सकता था—ख़ासकर छठे पद्यके पूर्वार्धके बाद घातिकर्मोंका समूल नाश करनेवाली उस विमल ज्योतिमय सुशक्तिके प्रादुर्भावकी योग्य-

ताका उल्लेख करनेके लिये उसकी एक प्रकारसे ज़रूरत भी थी; परन्तु उससे तूल होकर मूलकी लक्ष्यानुसार सूत्ररूपिणी कथनशैली और कथन-क्रमकी खूबीके नष्ट होनेकी बहुत बड़ी संभावना थी, जिसकी मैं अपनी इस रचनामें यथाशक्ति बराबर रक्षा करता रहा हूँ, इससे वह अनुकूल न रहता और इस लिए उक्त स्थानकी त्रुटिपूर्तिके अर्थ आत्मज्योति जगानेके अमोघ उपायस्वरूप 'महावीर-संदेश' नामकी एक दूसरी रचनाको परिशिष्टके तौरपर साथमें दे दिया गया है, जिससे इस पुस्तककी उपयोगिता बढ़ गई है। अस्तु; अपने इस सब प्रयत्नमें मैं कहाँ तक सफल हुआ हूँ और कहाँ तक उक्त 'सिद्ध-भक्ति' का विकास सिद्ध कर सका हूँ, इसका निर्णय विज्ञ पाठकोंपर ही छोड़ता हूँ।

उनके उपयोगार्थ ' सिद्ध-भक्ति ' का मूल पाठ भी साथमें लगा दिया गया है, जिससे यथारुचि सभी सज्जन लाभ उठा सकते हैं। आशा है, आत्महितैषी समस्त बन्धुजन ' महावीर-सन्देश ' सहित इस 'सिद्धि-सोपान' नामके भक्ति-पाठका भावपूर्वक नित्य पाठ करते हुए अपने जीवनको पवित्र और अपने आत्माको उन्नत बनानेका यत्न करेंगे।

सरसावा,
जि० सहारनपुर
ता. २७-१-३२

जुगलकिशोर मुख्तार

पूज्यपादीया

सिद्ध-भक्तिः

(१)

सिद्धानुद्धूत-कर्मप्रकृति-समुदयान्
साधितात्म-स्वभावान्;
वन्दे सिद्धि-प्रसिद्ध्यै तदनुपम-गुण-
प्रग्रहाकृष्टि-तुष्टः ।
सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः प्रगुणगुणगणो-
च्छादि-दोषापहारात्,
योग्योपदान-युक्त्या दृषद इह यथा
हेमभावोपलब्धिः ॥

(२)

नाऽभावः सिद्धिरिष्टा न निजगुण-हति-
स्तत्तपोभिर्न युक्तेः ;

अस्त्यात्माऽनादिबद्धः स्वकृतजफलभुक्
तत्क्षयान्मोक्षभागी ।
ज्ञाता द्रष्टा स्वदेह-प्रमितिरुपसमा-
हार-विस्तार-धर्मा,
ध्रौव्योत्पत्ति-व्ययात्मा स्वगुणयुत इतो
नाऽन्यथा साध्य-सिद्धिः ॥

(३)

स त्वन्तर्बाह्यहेतु-प्रभव-विमल-सद्-
दर्शन-ज्ञान-चर्या-
सम्पद्धेति-प्रघात-क्षत-दुरिततया
व्यंजिताऽचिन्त्य-सारैः ।
कैवल्यज्ञान-दृष्टि-प्रवरसुख-महा-
वीर्य-सम्यक्त्व-लब्धि-
ज्योतिर्वातायनादि(थैः ?) स्थिर-परम-
गुणैरद्भुतैर्भासमानः ॥

(४)

जानन्पश्यन्समस्तं सममनुपरतं
सम्प्रतृप्यन्वितन्वन्,
धुन्वन्ध्वान्तं नितान्तं निचितमनुसभं
प्रीणयन्नीश-भावम् ।
कुर्वन्सर्वप्रजानामपरमभिभवन्
ज्योतिरात्मानमात्मा,
आत्मन्येवात्मनाऽसौ क्षणमुपजनयन्
सत्स्वयम्भूः प्रवृत्तः ॥

(५)

छिन्दन्शेषानशेषान्निगलबलकलीं-
स्तैरनन्तस्वभावैः,
सूक्ष्मत्वाग्र्याऽवगाहाऽगुरुलघुकगुणैः
क्षायिकैः शोभमानः ।

अन्यैश्चान्य-व्यपोह-प्रवण-विषय-सं-
प्राप्ति-लब्धि-प्रभावै-
रूर्ध्वं व्रज्या-स्वभावात्समयमुपगतो
धाम्नि सन्तिष्ठतेऽग्र्ये ॥

(६)

अन्याकाराप्तिहेतुर्न च भवति परो-
येन तेनाऽल्पहीनः,
प्रागात्मोपात्तदेह-प्रतिकृति-रुचिरा-
कार एव ह्यमूर्तः ।
क्षुत्तृष्णा-श्वास-कास-ज्वर-मरण-जरा-
ऽनिष्टयोग-प्रमोह-
व्यापत्त्याद्युग्रदुःख-प्रभव-भवहतेः
कोऽस्य सौख्यस्य माता ॥

(७)

आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्
वीतबाधं विशालम्,
वृद्धि-ह्रास-व्यपेतं विषय-विरहितं
निःप्रतिद्वन्द्व-भावम् ।
अन्यद्रव्याऽनपेक्षं निरुपममामितं
शाश्वतं सर्वकालम्,
उत्कृष्टाऽनन्तसारं परमसुखमत-
स्तस्य सिद्धस्य जातम् ॥

(८)

नाऽर्थः क्षुत्तृड्विनाशाद्विविधरसयुतै-
रन्नपानैरशुच्या-
ऽनास्पष्टैर्गन्धमाल्यैर्न हि मृदुशयनै-
र्ग्लानि-निद्राद्यभावात् ।

आतंकार्तेरभावे तदुपशमनसद्-
भेषजाऽनर्थतावद्,
दीपाऽनर्थक्यवद्वा व्यपगत-तिमिरे
दृश्यमाने समस्ते ॥

(९)

तादृक् सम्पत्समेता विविधनय-तपः-
संयम-ज्ञान-दृष्टि-,
चर्या-सिद्धाः समन्तात्प्रविततयशसो
विश्व-देवाऽधिदेवाः ।
भूता भव्या भवन्तः सकलजगति ये
स्तूयमाना विशिष्टैः,
तान्सर्वान् नौम्यनन्ताभिजिगमिषुररं,
तत्स्वरूपं त्रिसन्ध्यम् ॥

सिद्धि-सोपान

[सिद्धभक्ति-विकास]

(१)

जिन वीरोंने कर्म-प्रकृतियों-
का सब मूलोच्छेद किया,
पूर्ण तपश्चर्याके बलपर
स्वात्मभावको साध लिया।

उन सिद्धोंको सिद्धि-अर्थ मैं
वन्दूँ, अति सन्तुष्ट हुआ—
उनके अनुपम-गुणाकर्षसे
भक्तिभावको प्राप्त हुआ ॥

(२)

स्वात्मभावकी लब्धि 'सिद्धि' है,
होती वह उन दोषोंके[१]
उच्छेदनसे, आच्छादक जो
ज्ञानादिक-गुण-वृन्दोंके ।
योग्य साधनोंकी सुयुक्तिसे[२];
अग्निप्रयोगादिक-द्वारा

१ ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म और रागादिक भावकर्म-मलोंके । २ सम्यक् योजनासे ।

हेम-शिलासे जगमें जैसे
हेम किया जाता न्यारा ॥

(३)

नहिं अभावमय[1] सिद्धि इष्ट है,
नहिं निजगुण-विनाशवाली[2];
सत्का कभी नाश नहिं होता,
रहता गुणी न गुण-खाली।
जिनकी ऐसी[3] सिद्धि न उनका
तप-विधान कुछ बनता है;
आत्मनाश—निजगुणविनाशका
कौन यत्न बुध करता है?

---

१ दीपनिर्वाणादिकी तरह आत्माके नाशरूप।
२ ज्ञानादि विशेष गुणोंके अभावको लिये हुए।
३ अभावमय अथवा निजगुणोंके विनाशरूप।

(४)

अस्तु; अनादिवद्ध[1] आत्मा है,
स्वकृत-कर्म-फलका भोगी,
कर्मबन्ध-फलभोग-नाशसे
होता मुक्ति-रमा-योगी ।
ज्ञाता, द्रष्टा, निजतनु-परिमित[2],
संकोचेतर-धर्मा[3] है,
स्वगुण-युक्त रहता है, हरदम
ध्रौव्योत्पत्ति-व्ययात्मा[4] है ॥

---

१ कर्मसन्ततिकी अपेक्षा अनादिकालसे बँधा हुआ—अर्थात् प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, और प्रदेशबन्ध ऐसे चार प्रकारके बन्धनोंसे युक्त ।

२ अपने शरीर जितने आकारवाला । ३ संकोच-विस्तारके स्वभावको लिये हुए । ४ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप—अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे सदा स्थिर रहनेवाला एवं नित्य और पर्याय दृष्टिसे उपजने तथा विनशनेवाला एवं अनित्य ।

(५)

इस सिद्धान्त-मान्यताके बिन
  साध्य-सिद्धि नहिं घटती है-
स्वात्मरूपकी लब्धि न होती,
  नहिं व्रत-चर्या बनती है।
बन्ध-मोक्ष-फलकी कथनी सब
  कथनमात्र रह जाती है,
अन्त न आता भव-भ्रमणका,
  सत्य-शान्ति नहिं मिलती है॥

(६)

जब वह आत्मा मोहादिकके
  उपशमादिको पा करके,
बाहरमें गुरु-उपदेशादिक
  श्रेष्ठ निमित्त मिला करके।

विमल-सुदर्शन-ज्ञान-चरणमय
अपनी ज्योति जगाता * है,
उस सुशक्तिके[1] प्रबल-घातसे[2]
घाति-चतुष्क[3] नशाता है ॥

(७)

तब वह भासमान होता स्थिर-
अद्भुत-परम-सुगुण-गणसे–

---

* इस आत्मज्योतिको जगानेका अमोघ उपाय 'महावीर-सन्देश'में बतलाया गया है, जिसे परिशिष्टमें देखना चाहिए।

१ शक्ति=प्रहरण, आयुधविशेष। २ मूलोच्छेद करनेवाले समर्थ प्रहारसे। ३ घातिकर्मोंका चतुष्टय–अर्थात् जीवके ज्ञानादि अनुजीवी गुणोंको घातनेवाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामके चार घातिया कर्म अपनी क्रमशः ५, ९, २८, ५ ऐसे ४७ उत्तर प्रकृतियोंके साथ।

प्रकटित हुआ अचिन्त्य सार है
जिनका दुरित-विनाशनसे[1]।
केवलज्ञान-सुदर्शनसे, अति-
वीर्य-प्रवरसुख-समकितसे,
शेपलब्धिसे[2], भामण्डलसे,
चामरादिकी सम्पत्‌से ॥

(८)

सबको सदा जानता-लखता
युगपत्, व्याप्त-सुतृप्त हुआ,
घन-अज्ञान-मोह-तम धुनता-
सबका सब, निःस्वेद[3] हुआ।

---

१ महापापरूप घातिकर्मोंके क्षयसे।

२ नवकेवल-लब्धियोंमेंसे दान, लाभ, भोग, उपभोग, और चारित्र नामकी शेप लब्धियोंसे।

३ श्रमजल (पसेव) रहित एवं निष्खेद।

करता तृप्त सुवचनामृतसे—
  सभाजनोंको औ करता—
ईश्वरता सब प्रजा-जनोंकी,
  अन्य-ज्योति फीकी करता ॥

(९)

आत्माको, आत्म-स्वरूपसे,
  आत्मामें प्रतिक्षण ध्याता—
हुआ सातिशय वह आत्मा यों,
  सत्य-स्वयम्भू-पद पाता ।

---

१ परमात्मज्योतिसे भिन्न दूसरी संपूर्ण ज्योति अथवा दूसरोंकी-कल्पित ईश्वरों, देवतामन्यों और आप्ताभिमानियों आदिकी—ज्ञानज्योति एवं प्रभा । २ अतिशयसहित, महान्, महात्मा ।

वीतराग-अर्हत्-परमेष्ठी—
आप्त-सार्व[1]-जिन कहलाता,
परंज्योति-सर्वज्ञ-कृती[2]-प्रभु—
जीवन्मुक्त नाम पाता ॥

(१०)

शेष निगड-सम[3] अन्य प्रकृतियाँ
फिर छेदता हुआ सारी,
आयु-वेदनी-नाम-गोत्र हैं
मूल प्रकृतियाँ[4] जो भारी।
उन अनन्तदृग्-बोध-वीर्य-सुख—
सहित शेष क्षायिकगुणसे—

---

१ सबके लिये हितरूप। २ कृतार्थ, पवित्र संपूर्ण हेयोपादेयके विवेकसे युक्त। ३ बेड़ियोंकी तरह बन्धनरूप। ४ इन चार अघातिकर्मोंकी उत्तर प्रकृतियाँ क्रमशः ४, २, ९३, २ ऐसे १०१ हैं।

अव्याबाध-अगुरुलघुसे औ'
सूक्ष्मपना-अवगाहनसे-॥
(११)
शोभमान होता, तैसे ही
अन्य गुणोंके समुदयसे—
प्रभवित हुए जो उत्तरोत्तर-
कर्मप्रकृतिके संक्षयसे ।
क्षणमें ऊर्ध्वगमन-स्वभावसे,
शुद्ध-कर्ममलहीन हुआ,

---

१ वेदनीयकर्माश्रित साता-असातारूप आकुलताके अभावका नाम 'अव्याबाध' गुण है। २ गोत्रकर्माश्रित उच्चता-नीचताके अभावका नाम 'अगुरुलघु' गुण है। ३ नामकर्माश्रित इन्द्रिय-गोचर स्थूलताके अभावको 'सूक्ष्मत्व' गुण कहते हैं। ४ आयुकर्माश्रित परतंत्रताके अभावको 'अवगाहन' गुण कहते हैं।

जा बसता है अग्रधाममें[1],
निरुपद्रव-स्वाधीन हुआ ॥

(१२)

मूलोच्छेद हुआ कर्मोंका,
बन्ध-उदय-सत्ता न रही,
अन्याकार-ग्रहणका[2] कारण
रहा न तब, इससे कुछ ही—
न्यून, चरम-तनु-प्रतिमाके[3] सम
रुचिराकृति[4] ही रह जाता
और अमूर्तिक वह सिद्धात्मा,
निर्विकार-पदको पाता ॥

---

१ लोक-शिखरके अग्र भागमें । २ वर्तमान चरम शरीरसे भिन्न आकारको धारण करनेका । ३ अन्तिम शरीरके प्रतिबिम्ब-समान । ४ देदीप्यमान आकारको लिये हुए ।

(१३)

क्षुधा-तृषा-श्वासादि-काम-ज्वर-
जरा-मरणके दुःखोंका—
इष्टवियोग-प्रमोह-आपदा-
ऽऽदिकके भारी कष्टोंका—
जन्म-हेतु जो, उस भवके[1] क्षय-
से उत्पन्न सिद्ध-सुखका
कर सकता परिमाण कौन है ?
लेश नहीं जिसमें दुखका।

(१४)

सिद्ध हुआ निज-उपादानसे[2],
खुद अतिशयको प्राप्त हुआ,

---

१ संसार। २ आत्माके उपादानसे—प्रकृतियोंके उपादानसे नहीं। अर्थात् आत्मा ही उसका मूल कारण है—वही सुखकार्यरूप परिणमता है।

बाधा-रहित, विशाल, इन्द्रियोंके
विषयोंसे रिक्त¹ हुआ।
बढ़ता और न घटता जो है,
प्रतिपक्षीसे रहित सदा,
उपमा-रहित अन्य द्रव्योंकी
नहीं अपेक्षा जिसे कदा॥

(१५)

सुख उत्कृष्ट, अमित, शाश्वत वह,
सर्वकालमें व्याप्त हुआ,
निरवधिसारं परम सुख, इससे
उस सुसिद्धको प्राप्त हुआ।
जो परमेश्वर, परमात्मा औ'
देह-विमुक्त कहा जाता,

१ शून्य। २ दुःखसे। ३ अनन्त महिमायुक्त।

स्वात्मास्थित-कृतकृत्य हुआ निज-
पूर्ण-स्वार्थको[1] अपनाता ॥

(१६)

कर्म-नाशसे उस सुसिद्धके
क्षुधा-तृषाका लेश नहीं,
नाना-रस-युत अन्नपानका,
अतः, प्रयोजन शेष नहीं।
नहीं प्रयोजन गन्ध-माल्यका[2]
अशुचि-योग जब नहीं कहीं;
नहीं काम मृदु-शय्याका जब
निद्रादिकका नाम नहीं ॥

---

१ संपूर्ण विभाव-परिणतिको छोड़कर सदाके लिये अपने स्वरूपमें स्थित हो जाना ही आत्माका वास्तविक स्वार्थ है—स्वप्रयोजन है। २ कर्पूरादि सुगन्ध द्रव्यों और पुष्पों अथवा पुष्पमालाओंका।

(१७)

रोग-विना तत्शमनी[1] उत्तम-
ओषधि जैसे व्यर्थ कही;
तम-विन दृश्यमान होते सब,
दीपशिखा ज्यों व्यर्थ कही।
त्यों सांसारिक विषय-सौख्यका
सिद्ध हुए कुछ काम नहीं,
बाधित-विषम-पराश्रित-भंगुर-
बन्धहेतु जो, अदुख नहीं ॥

(१८)

यों अनन्त-ज्ञानादि गुणोंकी
सम्पत्से जो युक्त सदा,

---

१. उस रोगको शान्त करनेवाली। २ बाधा-सहित। ३ एक रस न रहकर वृद्धि-ह्रासको लिये हुए।

विविध सुनय-तप-संयमसे हो
सिद्ध, न भजते विकृति[1] कदा।
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरणसे[2]
तथा सिद्धपदको पाते,
पूर्ण यशस्वी हुए, विश्वदे-
वाधिदेव जो कहलाते ॥

(१९)

आवागमन-विमुक्त हुए, जिन-
को करना कुछ शेष नहीं,
आत्मलीन, सब दोष-हीन, जिन-
के विभावका लेश नहीं
राग-द्वेष-भय-मुक्त, निरंजन[3],
अजर-अमर-पदके स्वामी,

१ विक्रिया अथवा विकारको प्राप्त नहीं होते। २ सम्यक्चारित्र। ३ कर्ममल-रहित।

मंगलभूत[1] पूर्ण विकासित, सत्-
चिदानन्द, जो निष्कामी ॥

(२०)

ऐसे हुए अनन्त सिद्ध औ'
वर्तमान हैं संप्रति[2] जो,
आगे होंगे, सकल जगतमें,
विबुध-जनोंसे संस्तुत जो।
उन सबको, नत-मस्तक हो, मैं
वन्दूँ तीनों काल सदा;
[3]तत्स्वरूपकी शीघ्र प्राप्तिका
इच्छुक होकर, सहित मुदा[4] ॥

१ स्वयं मंगलमय और दूसरोंके लिये मंगलके कारण। २ इस समय (विदेहादिकमें)। ३ उनके अनन्तज्ञानादिरूप शुद्ध स्वरूपकी। ४ सहर्ष।

(२१)

कारण, उनका जो स्वरूप है
वही रूप सब अपना है,
उस ही तरह सुविकसित होगा,
इसमें लेश न कहना है।
उनके चिन्तन-वंन्दनसे निज-
रूप सामने आता है,
भूली निज-निधिका दर्शन यों,
प्राप्ति-प्रेम उपजाता है ॥

(२२)

इससे सिद्ध-भक्ति है सच्ची
जननी सब कल्याणोंकी,

१ प्रणाम-स्तुति-जयवादादिरूप विनय-क्रियाको वंदना अथवा वंदन कहते हैं।

श्रेयोमार्ग[1] सुलभ करती, बन
हेतु कुशल-परिणामोंकी।
कही 'सिद्धि-सोपान,' इसीसे,
प्रौढ[2] सुधीजन अपनाते,
पूज्यपादकी 'सिद्ध-भक्ति' लख,
'युग-मुमुक्षु' अति हर्षाते॥

सिद्धिरस्तु

---

१ कल्याणमार्ग, मोक्षमार्ग। २ परिपक्व, उन्नत।

परिशिष्ट

महावीर-सन्देश

यही है महावीर-सन्देश।
विपुलाचलपर दिया गया जो—
प्रमुख धर्म-उपदेश ॥ यही० ॥

(१)

सब जीवोंको तुम अपनाओ,
हर उनके दुख-क्लेश।
असद्भाव रक्खो न किसीसे,
हो अरि क्यों न विशेष॥ यही०

(२)

वैरीका उद्धार श्रेष्ठ है,
कीजे सविधि-विशेष।

वैर छुटे, उपजे मति जिससे,
वही यत्न यत्नेश ॥ यही०

(३)

घृणा पापसे हो, पापीसे—
नहीं कभी लव-लेश ।
भूल सुझाकर प्रेम-मार्गसे,
करो उसे पुण्येश ॥ यही०

(४)

तज एकान्त-कदाग्रह-दुर्गुण,
बनो उदार विशेष ।
रह प्रसन्नचित सदा, करो तुम—
मनन तत्त्व-उपदेश ॥ यही०

(५)

जोती राग-द्वेष-भय-इन्द्रिय-
मोह-कषाय अशेष ।

धरो धैर्य, सम-चित्त रहो औ'
सुख-दुखमें सविशेष ॥ यही०

(६)

अहंकार-ममकार तजो, जो—
अवनतिकार विशेष ।
तप-संयममें रत हो, त्यागो—
तृष्णाभाव अशेष ॥ यही०

(७)

' वीर ' उपासक बनो सत्यके,
तज मिथ्याऽभिनिवेश[१] ।
विपदाओंसे मत घबराओ,
धरो न कोपाऽऽवेश ॥ यही०

---

१ असत्याग्रह, मिथ्या परिणति, मिथ्यात्व ।

(८)

संज्ञानी-संदृष्टि बनो, औ
तजो भाव संक्लेश ।
सदाचार+ पालो दृढ होकर,
रहे प्रमाद न लेश ॥ यही

(९)

सादा रहन-सहन-भोजन हो,
सादा भूषा-वेष ।
विश्व-प्रेम जागृत कर उरमें,
करो कर्म निःशेष ॥ यही०

+अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच व्रतोंके अनुष्ठानको अथवा हिंसादिक पापों, कन्याविक्रयादि अन्यायों और मद्य-मांसादिक अभक्ष्योंके त्यागको 'सदाचार' कहते हैं ।

(१०)

हो सबका कल्याण, भावना+
ऐसी रहे हमेश।
दया-लोकसेवा-रत चित हो,
और न कुछ आदेश ॥ यही०

(११)

इसपर चलनेसे ही होगा–
विकसित स्वात्म-प्रदेश।
आत्म-ज्योति जगेगी ऐसे–
जैसे उदित दिनेश ॥ यही०

+इस कल्याण-भावनाके लिए लेखककी लोक-प्रसिद्ध 'मेरी भावना' का अवलम्बन लेना उत्तम होगा। हरएकको उसे मेरी (अपनी) भावना बनाना चाहिये।